हाशिये पर बुनते हाथ: 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' में अंसारी जीवन-संघर्ष

डॉ. कहकशाँ

सार:

यह शोध-पत्र अब्दुल बिस्मिल्लाह के उपन्यास 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' (1986) के माध्यम से बनारस के अंसारी बुनकर समुदाय के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन को समझने का प्रयास है। हिंदी कथा-साहित्य में मुस्लिम पात्रों पर काफ़ी काम हुआ है, लेकिन अंसारी समुदाय की व्यावसायिक स्थिति, पारिवारिक ढाँचे और मुस्लिम समाज के भीतर उनकी सामाजिक जगह पर अलग से बहुत कम ध्यान गया है।

इस अध्ययन के तीन उद्देश्य हैं। पहला, यह देखना कि उपन्यास में बुनकरों की आर्थिक तंगी, हथकरघा उद्योग के संकट और उनकी रोज़मर्रा की ज़िंदगी को किस तरह दिखाया गया है। दूसरा, यह समझना कि साहित्य किस तरह पसमांदा समुदायों के सामाजिक इतिहास को दर्ज करने का ज़रिया बन सकता है — ख़ासकर तब, जब इनके बारे में औपचारिक दस्तावेज़ बहुत कम मिलते हैं। तीसरा, इस चित्रण को मुस्लिम समाज के भीतर जाति और पसमांदा पहचान की बड़ी बहस से जोड़कर देखना।

पद्धति के तौर पर उपन्यास का बारीक पाठ-विश्लेषण किया गया है, और उससे निकले निष्कर्षों का मिलान बनारसी बुनकरों पर हुए नृवंशवैज्ञानिक तथा आर्थिक शोध से किया गया है। स्रोत सामग्री में मूल उपन्यास, बिस्मिल्लाह पर आलोचनात्मक लेखन, बुनकर समुदाय पर हुए क्षेत्र-अध्ययन और सच्चर समिति जैसे शासकीय प्रतिवेदन शामिल हैं।

अध्ययन का योगदान यह दिखाना है कि साहित्यिक पाठ भी समुदाय-केंद्रित अध्ययन के लिए भरोसेमंद पूरक स्रोत हो सकते हैं, और यह उपन्यास अंसारी बुनकरों के श्रम-संबंधों, शिल्प-ज्ञान, स्त्री-श्रम और सामाजिक अलगाव को समझने में किस तरह मदद करता है।

बीज शब्द: पसमांदा, अंसारी, मोमिन, जुलाहा, बुनकर, बनारसी साड़ी, हथकरघा, अब्दुल बिस्मिल्लाह, कबीर, गिरस्ता-कोठीवाल, कर्ज़, स्त्री-श्रम।

प्रस्तावना

कबीर बनारस के जुलाहा थे। उनका एक मशहूर पद है — 'झीनी झीनी बीनी चदरिया।' उसमें करघा शरीर का रूपक है, ताना-बाना साँस का, और चादर वह जीवन है जो साईं ने दस महीने में बुना। पाँच सौ साल बाद अब्दुल बिस्मिल्लाह ने इसी पंक्ति को उठाकर अपने उपन्यास का नाम रखा — और उपन्यास उन्हीं लोगों पर लिखा जो कबीर की बिरादरी से आते हैं, उसी बनारस में, उन्हीं गलियों में।

पर पाँच सौ साल में अर्थ बदल गया। कबीर के यहाँ करघा अध्यात्म का रूपक था। बिस्मिल्लाह के यहाँ वह रोज़ी का औज़ार है। कबीर की चदरिया आत्मा थी, यहाँ वह बाज़ार में बिकने वाला माल है। कबीर के यहाँ बुनकर संत है, यहाँ वह कर्ज़ में डूबा मज़दूर। यह फ़ासला ही इस लेख का विषय है।

हिंदी में मुसलमान पात्रों की कमी नहीं। लेकिन जो लिखा गया, उसका बड़ा हिस्सा पढ़े-लिखे या ज़मींदार तबके का है। राही मासूम रज़ा के 'आधा गाँव' में गंगौली के शिया ज़मींदार हैं। मंज़ूर एहतेशाम के 'सूखा बरगद' में शहरी मध्यवर्ग। शानी का 'काला जल' बस्तर के एक मध्यवर्गीय मुस्लिम परिवार को केंद्र में रखकर इस दुनिया को महानगर से बाहर ले जाता है। 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' इसी अपवाद-परंपरा की सबसे मज़बूत कड़ी है। यहाँ पूरा एक पेशेवर समुदाय कथा के केंद्र में है — उसका करघा, उसका मुहल्ला, उसका कर्ज़, उसकी बीमारी और उसकी बोली।

उपन्यास 1986 में राजकमल प्रकाशन से आया। इसे सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार और केडिया पुरस्कार मिला, और इसके उर्दू तथा अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित हुए। लिखने से पहले बिस्मिल्लाह ने क़रीब दस साल बनारस के बुनकरों के बीच रहकर उनका जीवन देखा था। ख़ुद वे इलाहाबाद ज़िले के बलापुर गाँव में 1949 में पैदा हुए, इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हिंदी में एम.ए. और डी.फ़िल. किया, और लंबे समय तक जामिया मिल्लिया इस्लामिया के हिंदी विभाग में प्रोफ़ेसर रहे। 'अपवित्र आख्यान', 'मुखड़ा क्या देखे', 'समर शेष है', 'ज़हरबाद', 'दंतकथा' और 'रावी लिखता है' उनके दूसरे उपन्यास हैं। यह दस साल का साथ ही वजह है कि उपन्यास में करघे की शब्दावली, मज़दूरी की दरें, कटौती के बहाने और मुहल्ले का भूगोल इतनी बारीकी से आते हैं कि यह किताब सिर्फ़ कहानी नहीं, एक सामाजिक दस्तावेज़ भी बन जाती है।

डॉ. कहकशाँ, पीएच.डी. (हिंदी साहित्य), दिल्ली विश्वविद्यालय Kahkashan.hansraj@live.com

अंसारी कौन हैं

अध्ययन जिस समुदाय पर है, उसके तीन नाम हैं और तीनों अलग-अलग इतिहास बताते हैं। **जुलाहा** पुराना पेशेवर नाम है, जो औपनिवेशिक जनगणनाओं और लोक-मुहावरे में अक्सर हिक़ारत के साथ इस्तेमाल हुआ। **मोमिन**, यानी सच्चा ईमान वाला, बीसवीं सदी के शुरू में आत्मसम्मान की तलाश में अपनाया गया नाम है। **अंसारी** मदीना के अंसार और ख़ासकर हज़रत अबू अय्यूब अंसारी से वंश-संबंध के दावे पर टिका है। नाम बदलने की यह प्रक्रिया अपने आप में एक सामाजिक तथ्य है — सम्मान की तलाश में समुदाय ने अपनी पहचान को ऊपर की ओर जोड़ा।

'पसमांदा' फ़ारसी शब्द है, अर्थ है — पीछे छूट गए। आज यह उन मुस्लिम समूहों की साझा राजनीतिक श्रेणी है जो पेशेवर (अजलाफ़) या सेवा-जाति (अरज़ाल) मूल के हैं और कुलीन अशराफ़ तबके से अलग स्थिति में हैं। 1901 की जनगणना से जुड़े हर्बर्ट रिज़ले के काम ने इस त्रिस्तरीय वर्गीकरण को दर्ज किया था। आज़ादी के बाद ग़ौस अंसारी (1960) और इम्तियाज़ अहमद (1973) ने अनुभवजन्य साक्ष्य से दिखाया कि शादी-ब्याह, पेशे और सामाजिक दूरी के स्तर पर उत्तर भारत के मुस्लिम समाज में यह स्तरीकरण सचमुच मौजूद है।

दूसरा पक्ष भी है और उसे दर्ज करना ज़रूरी है। कई विद्वान और उलेमा कहते हैं कि इस्लाम में जन्म के आधार पर ऊँच-नीच की कोई गुंजाइश नहीं; जो है वह बिरादरी और स्थानीय रिवाज़ है, जाति नहीं। एक तीसरा पक्ष इसे 'जाति जैसी' संरचना कहता है — यानी छुआछूत का शास्त्रीय आधार भले न हो, पर अंतर्विवाह और पेशे की वंशानुगत बंदिश लगभग वैसे ही काम करते हैं। यह लेख किसी एक पक्ष को अंतिम सत्य नहीं मानता; वह उपन्यास से मिलने वाला साक्ष्य सामने रखता है।

संगठित रूप में इस समुदाय की आवाज़ 1926 की अखिल भारतीय मोमिन कॉन्फ्रेंस से उठी, जिसके प्रमुख संगठनकर्ता मौलाना अली हुसैन 'आसिम बिहारी' (1892–1953) थे — बीड़ी मज़दूरों के बीच लोग उन्हें 'कमाली बाबा' कहते थे। तीस के दशक के बाद अब्दुल क़य्यूम अंसारी (1905–1973) के नेतृत्व में इस संगठन ने मुस्लिम लीग के इस दावे को चुनौती दी कि वह सारे मुसलमानों की नुमाइंदगी करती है, और द्वि-राष्ट्र सिद्धांत तथा विभाजन का विरोध किया। दूसरा दौर मंडल के बाद आया — 1994 में डॉ. एजाज़ अली का अखिल भारतीय पिछड़ा मुस्लिम मोर्चा, 1998 में अली अनवर का पसमांदा मुस्लिम महाज़, और 2001 में उनकी किताब 'मसावात की जंग'। 2006 की सच्चर समिति रिपोर्ट ने आँकड़ों के साथ वही बात कही जो यह उपन्यास बीस साल पहले कहानी में कह चुका था।

उपन्यास की कहानी

कहानी 1970 और कुछ हद तक 1980 के दशक के बनारस में चलती है — अलईपुर, मदनपुरा, बजरडीहा जैसे घने बुनकर मुहल्लों में, जहाँ घर, कारख़ाना और गली अलग-अलग चीज़ें नहीं हैं। करघा उसी कमरे में गड़ा है जहाँ लोग सोते हैं, खाते हैं और बीमार पड़ते हैं।

उपन्यास का केंद्रीय पात्र **मतीन** है। वह ईमानदार आदमी है, मेहनती है, और अपने हुनर के भरोसे जीता है। उसकी ख़्वाहिश भी बहुत बड़ी नहीं — वह चाहता है कि किसी तरह अपना रेशम और धागा ख़ुद ख़रीद सके और छोटा-मोटा गिरस्ता बन जाए। यानी वह व्यवस्था को उलटना नहीं चाहता, बस उसमें एक क़दम ऊपर चढ़ना चाहता है। पूरे उपन्यास का दुख इसी छोटी-सी ख़्वाहिश के पूरा न हो पाने में है।

यह ख़्वाहिश टूटती कैसे है, यही कहानी का असली मोड़ है। **अलीमुन** को टीबी हो जाती है। इलाज के लिए मतीन को कर्ज़ लेना पड़ता है, और यह कर्ज़ उसे **हाजी अमीरुल्लाह** के ऐसे जाल में फँसा देता है जहाँ से निकलना लगभग नामुमकिन हो जाता है। एक बीमारी, एक कर्ज़ — और आदमी की सारी बचत, सारी योजना और सारी आज़ादी ख़त्म। मतीन का जीवन यही बताता है कि इस व्यवस्था में ग़रीब आदमी की ईमानदारी भी उसे नहीं बचा पाती। मेहनत कम पड़ने से वह नहीं हारता; वह इसलिए हारता है कि ढाँचा ही ऐसा बना है।

हाजी अमीरुल्लाह उपन्यास का सबसे अहम प्रतिपक्ष है, और उसका चरित्र-गठन बेहद सूझ-भरा है। बाहर से वह धार्मिक और इज़्ज़तदार आदमी है — हाजी है, बिरादरी में उसका रुतबा है। भीतर से वही कोठीदार है जो ग़रीब बुनकरों की मेहनत पर अपना साम्राज्य खड़ा करता है। यहाँ बिस्मिल्लाह एक बहुत ज़रूरी बात कहते हैं: शोषक हमेशा बाहर का नहीं होता। वह बिरादरी के भीतर से, धर्म और सम्मान की चादर ओढ़कर भी आ सकता है। यही वजह है कि बुनकर उसके ख़िलाफ़ आसानी से खड़ा नहीं हो पाता — मुख़ालफ़त धर्म और समाज दोनों की मुख़ालफ़त लगने लगती है।

इस अँधेरे में **इक़बाल** एक जलती लौ की तरह आता है। वह सिर्फ़ दुखी नहीं, जागरूक भी है। वह बुनकरों को समझाने और संगठित करने की कोशिश करता है, क्योंकि वह समझ चुका है कि अकेला आदमी टूट जाता है, पर संगठित लोग सवाल बन जाते हैं। उपन्यास इक़बाल को कोई जीत नहीं देता — यह उसकी ईमानदारी है। पुरानी पीढ़ी की लड़ाई अधूरी रहती है, पर लड़ने की इच्छा विरासत की तरह अगली पीढ़ी को सौंप दी जाती है।

इनके इर्द-गिर्द पूरा मुहल्ला है — **रऊफ़ चचा**, **नजबुनिया**, **नसीबुन बुआ**, **रेहाना**, **कमरुन**, **लतीफ़**, **बशीर**, **अल्ताफ़**। ये सब टूटते हुए भी

साबुत रहते हैं। हालात से समझौता नहीं करते, बल्कि उनसे लड़ना और उन्हें बदलना चाहते हैं। यही उपन्यास की बनावट की सबसे बड़ी बात है — इसमें कोई अकेला नायक नहीं है। नायकत्व पूरे मुहल्ले में बँटा हुआ है, ठीक वैसे ही जैसे बुनकर का संकट किसी एक घर का नहीं, पूरी बिरादरी का है।

सेठ का हिसाब: कम देकर ज़्यादा कमाने का तरीक़ा

उपन्यास की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि वह ग़रीबी को हालत की तरह नहीं, रिश्ते की तरह दिखाता है। बुनकर इसलिए ग़रीब नहीं कि वह कामचोर या अकुशल है। वह इसलिए ग़रीब है कि जिस साड़ी में उसके हफ़्तों-महीनों खपते हैं, उसकी क़ीमत का बहुत छोटा हिस्सा उस तक पहुँचता है। यह समझने के लिए पूरी कड़ी देखनी पड़ेगी।

सबसे नीचे **कारीगर** है — प्रायः अंसारी मुसलमान, जो अपने घर में करघा लगाकर टुकड़ा-मज़दूरी पर काम करता है। करघा उसका अपना हो सकता है, पर कच्चा माल उसका नहीं। उसके ऊपर **गिरस्ता** है — बिचौलिया, जो अक्सर ख़ुद भी अंसारी होता है। वह कोठीवाल से रेशम, ज़री और नक़्शा लेकर कारीगरों में बाँटता है, तैयार साड़ी जमा करता है और बीच का फ़र्क़ रखता है। वह कारीगर का 'अपना आदमी' भी है और शोषक भी — यही दोहरापन उपन्यास के सबसे मार्मिक हिस्सों की जड़ है। सबसे ऊपर **कोठीवाल** या गद्दीदार है — चौक और गोदौलिया की कोठियों में बैठा पूँजी का मालिक, जिसके हाथ में भाव, बाज़ार और साख तीनों हैं। उपन्यास में सेठ गजाधर प्रसाद जैसे नाम इसी सिरे से आते हैं, और यही बनारसी साड़ी के कारोबार की वह बनावट है जिसमें श्रम बड़े हिस्से में मुस्लिम है और पूँजी बड़े हिस्से में हिंदू।

अब देखिए कि कम देकर ज़्यादा कमाने का काम किन तरीक़ों से होता है।

पहला — पेशगी। गिरस्ता या कोठीवाल कच्चा माल और थोड़ा-सा अग्रिम देता है। इसी अग्रिम के साथ कारीगर की आज़ादी ख़त्म हो जाती है। अब वह किसी और को माल नहीं बेच सकता, भाव पर मोल-भाव नहीं कर सकता, काम छोड़ नहीं सकता। देखने में वह 'आज़ाद कारीगर' है, हक़ीक़त में बँधा हुआ मज़दूर। मतीन के साथ यही होता है — अलीमुन के इलाज का कर्ज़ लेते ही वह अपना छोटा गिरस्ता बनने का सपना गिरवी रख देता है।

दूसरा — कटौती। यह उपन्यास का सबसे बारीक और सबसे चुभने वाला हिस्सा है। हफ़्ते भर करघे पर पिसने के बाद भी बुनकर को जो थोड़ी-सी मज़दूरी मिलती है, उसमें से भी काट लिया जाता है — दाग़ के नाम पर, मत्ती के नाम पर, रफ़ू के नाम पर, तीरों के दोष के नाम पर। ये बहाने ऐसे हैं जिन्हें कोई बाहरी आदमी जान भी नहीं सकता; इन्हें जानने के लिए करघे के पास बैठना पड़ता है। और सबसे बड़ी बात यह कि बुनकर के पास न बहस करने की ताक़त है, न सबूत माँगने की हैसियत। पसीना भी उसका, ग़लती भी उसकी। बिस्मिल्लाह इन कटौतियों की अनुमानित रक़म तक देते हैं — और यही ब्योरा बताता है कि उन्होंने यह जीवन दूर से नहीं देखा। जिस परिवार की पूरी हफ़्ते की कमाई मामूली हो, उसके लिए पाँच रुपये की कटौती भी बड़ी चोट है।

तीसरा — भाव की जानकारी न होना।

कारीगर को यह पता ही नहीं चलता कि उसकी बुनी साड़ी आख़िर में किस दाम पर बिकेगी। बाज़ार की सारी सूचना ऊपर वाले सिरे पर बंद है। जिसे अपने ही श्रम का मोल न मालूम हो, वह मोल-भाव करेगा किससे?

चौथा — सरकारी पैसे का रुख़ मोड़ देना।

यह उपन्यास का सबसे तीखा खुलासा है। हाजी अमीरुल्लाह सहकारी समिति के नाम पर आने वाले सरकारी पैसे का इस्तेमाल बुनकरों की भलाई में नहीं, अपने निजी पावरलूम लगाने में करता है। यानी पैसा आता है ग़रीब के नाम पर, और बन जाता है अमीर की मशीन। और वह मशीन आगे चलकर उसी हथकरघे को उजाड़ती है जिसके नाम पर पैसा आया था। शोषण का चक्र यहाँ पूरा होता है: ग़रीब की मेहनत से पूँजी बनी, फिर ग़रीब के नाम की सरकारी मदद से मशीन बनी, और अब वही मशीन ग़रीब का काम छीन रही है।

यह सिर्फ़ उपन्यास की बात नहीं है। हाल की रिपोर्टिंग में बनारस का एक बुनकर बताता है कि एक साड़ी के उसे लगभग दस हज़ार रुपये मिलते हैं, जबकि वही साड़ी पचास हज़ार से चार लाख रुपये तक में बिकती है। एक और बुनकर, जिसकी आठ पीढ़ियाँ इसी काम में रहीं, बताता है कि असली रेशम और ज़री की छह मीटर की एक साड़ी बुनने में क़रीब दो महीने लगते हैं और बदले में लगभग दस हज़ार रुपये मिलते हैं — जबकि उसका बेटा पावरलूम पर हर महीने पंद्रह हज़ार कमा लेता है। बिस्मिल्लाह ने चालीस साल पहले जिस असमानता को कहानी में पकड़ा था, वह आज भी वैसी ही है; सिर्फ़ आँकड़े बदले हैं।

शरीर की क़ीमत

अलीमुन की टीबी कोई अलग-थलग घटना नहीं है। वह उस पूरी सेहत-व्यवस्था का लक्षण है जो बुनकर मुहल्ले में काम करती है। बुनकर का शरीर ही उत्पादन का औज़ार है, और उपन्यास उसकी टूट-

फूट को धीरज से दर्ज करता है। गड्ढे वाले करघे में घंटों एक ही मुद्रा में बैठने से कमर और घुटनों का स्थायी दर्द। कम रोशनी में महीन ज़री और बारीक बूटी पर काम करने से आँखों का क्षय, जो अक्सर चालीस की उम्र तक कारीगर को काम लायक़ नहीं छोड़ता। घनी, नम, अँधेरी कोठरियों में रेशम के महीन रेशों के बीच साँस लेने से फेफड़ों की बीमारियाँ — और टीबी।

जहाँ एक बीमारी पूरे परिवार को कर्ज़ के अगले चक्कर में धकेल देती हो, वहाँ सेहत का संकट और कर्ज़ का संकट एक ही चीज़ के दो नाम हैं। यही मतीन की कहानी का ढाँचा है, और यही सच्चर समिति जैसी बहुत बाद की रिपोर्टों का भी निष्कर्ष है — कि पिछड़ेपन के आर्थिक, शैक्षिक और स्वास्थ्य वाले पहलू एक-दूसरे को मज़बूत करते हैं।

इसी से जुड़ा है बच्चों का काम। नरी भरना, ताना लपेटना, छोटे-मोटे हाथ बँटाना — ये 'काम' नहीं गिने जाते, 'घर की मदद' गिने जाते हैं। नतीजा यह कि स्कूल छूटता है और अगली पीढ़ी उसी अकुशल मज़दूरी में उतर जाती है। उपन्यास इसे उपदेश की तरह नहीं, प्रक्रिया की तरह दिखाता है — और यही उसकी ताक़त है।

घर की औरतें

नजबुनिया, नसीबुन बुआ, रेहाना, कमरून — ये सिर्फ़ भावनात्मक पृष्ठभूमि नहीं हैं। बनारसी साड़ी बनने से पहले की कई प्रक्रियाएँ घर की औरतें करती हैं: नरी भरना, चरखा चलाना, धागे सुलझाना, ताना लगाने में हाथ बँटाना। लेकिन इस काम की न अलग मज़दूरी है, न कोई सरकारी पहचान। हथकरघा जनगणनाओं में औरतें अक्सर 'सहायक श्रमिक' की कोटि में आती हैं, जिससे उनका असली योगदान आँकड़ों में दब जाता है।

वसंती रमन का क्षेत्र-कार्य यहीं उपन्यास से जुड़ता है। उनका अध्ययन दिखाता है कि बुनकर औरत दोहरे दबाव में है — एक तरफ़ बिरादरी के भीतर का पितृसत्तात्मक नियंत्रण और पर्दे की मर्यादा, दूसरी तरफ़ उद्योग के संकट में घर चलाने का बढ़ता बोझ। संकट के दिनों में यही औरतें बीड़ी बनाने, कढ़ाई-सिलाई और दूसरों के घर के काम में उतरती हैं। यानी झटका सबसे पहले औरत का श्रम सोखता है। मतीन के घर में अलीमुन की बीमारी जिस तरह पूरे घर की व्यवस्था बदल देती है, वह इसी बात का कथात्मक रूप है।

एक बात ईमानदारी से कहनी चाहिए। उपन्यास की औरतें सशक्त हैं, बोलती हैं, डटी रहती हैं — पर कथा की नज़र मूलतः मर्दाना है। करघे का कमरा केंद्र में है, चौका और आँगन किनारे। यह बिस्मिल्लाह की कमज़ोरी से ज़्यादा उस दौर की हिंदी कथा-दृष्टि की सीमा है। और यह आगे के शोध के लिए एक साफ़ जगह छोड़ती है: बुनकर औरत की नज़र से लिखा गया अध्ययन आज भी लगभग नहीं है।

बुनाई की ज़बान और शिल्प का ज्ञान

बिस्मिल्लाह करघे की शब्दावली का अनुवाद नहीं करते। वे उसे ज्यों का त्यों कहानी में रखते हैं — ताना, बाना, भरनी, नरी, ढरकी, जाला, नक़्शा, बूटी, कलगा, मीना, कतान, ज़री। इसका असर यह होता है कि पाठक को कारीगर की दुनिया अनूदित रूप में नहीं, उसकी अपनी शर्तों पर मिलती है। कटौती के जो बहाने ऊपर गिनाए गए — दाग़, मत्ती, रफ़ू, तीरों के दोष — वे भी इसी शब्द-संसार का हिस्सा हैं, और यही ब्योरा उपन्यास को प्रामाणिक बनाता है।

पर इसका मतलब सिर्फ़ भाषा की रंगीनी नहीं है। यह शब्दावली एक पूरी अलिखित ज्ञान-परंपरा की निशानी है। डिज़ाइन को नक़्शे में उतारने की गणित, रंगों के मेल की परंपरा, धागों की गिनती और घनत्व का अनुभव से बना विज्ञान — और यह सब बिना किसी लिखित पाठ्यक्रम के, उस्ताद-शागिर्द की परंपरा में पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहा। दो तकनीकों का फ़र्क़ इसे साफ़ कर देता है। **कड़ुआ** (कड़हुआ) में हर बूटी अलग-अलग हाथ से बुनी जाती है, इसलिए साड़ी के उल्टे हिस्से पर धागे तैरते नहीं मिलते — यह धीमा, महँगा और सबसे कुशल काम है। **फेकुआ** में ढरकी से ज़री का धागा एक सिरे से दूसरे सिरे तक फेंका जाता है और बाद में फालतू धागे काट दिए जाते हैं — यह तेज़ है, और पावरलूम इसी की नक़ल करता है। असली और नक़ली साड़ी की पहचान यहीं से तय होती है।

बूटी के कुछ रूपों के अपने नाम हैं। आम की जिस आकृति को दुनिया पैस्ली कहती है, उसे बनारस के बुनकर **कैरी** कहते हैं; साड़ी के कोनों पर बनी यही आकृति **कोनिया** कहलाती है। जब वैश्विक बाज़ार में इस ज्ञान की क़ीमत 'अकुशल मज़दूरी' के भाव लगती है, तो जो ख़त्म होता है वह सिर्फ़ रोज़गार नहीं, एक ज्ञान-परंपरा है। उपन्यास इस क्षय को शोकगीत की तरह नहीं, दस्तावेज़ की तरह दर्ज करता है।

बनारसी बोली का रंग

उपन्यास की भाषा उसका सबसे सराहा गया पक्ष है। पात्रों की बोली में दो चीज़ें एक साथ मिलती हैं — भोजपुरी की सहजता और उर्दू की नर्मी। बनारस के आसपास बोली जाने वाली भोजपुरी को काशिका कहा जाता है, और उसी की छाया मुहल्ले की हिंदी-उर्दू पर पड़ती है। इसके लक्षण साफ़ पहचाने जा सकते हैं। 'है' की जगह **बा** या **हौ** आता है — 'का हौ?', 'ठीक बा।' 'हम' एकवचन में भी चलता है और बहुवचन के लिए **हमनी के**। 'उसका' के लिए **ओकर**, 'इसका' के लिए **एकर**। क्रिया के भूतकालिक रूप **आइल, गइल, भइल, कहलस** जैसे बनते हैं।

संबोधन में **गुरू**, **भइया**, **ए हो** और गाढ़े बनारसी अंदाज़ में **बुड़बक** तक चला आता है।

इसके ऊपर बुनकर मुहल्ले की अपनी परत है — अब्बा, अम्मी, चचा, बुआ, ख़ाला, मियाँ, दुल्हन; और 'ख़ुदा गवाह', 'अल्लाह की मार', 'इंशाअल्लाह' जैसे रोज़मर्रा के मुहावरे। इनके साथ कारोबार की शब्दावली — पेशगी, कोठी, गिरस्ता, नक़्शा — घुली रहती है। नतीजा यह कि पात्र जब बोलते हैं तो सिर्फ़ बात नहीं करते, अपनी पूरी सामाजिक जगह ज़ाहिर कर देते हैं।

यह भाषा का चुनाव एक राजनीतिक चुनाव भी है। जब हाशिये के समुदाय की ज़बान को साफ़-सुथरी मानक हिंदी में बदल दिया जाता है, तो उसके साथ उसकी दुनिया देखने का तरीक़ा भी बदल जाता है। बिस्मिल्लाह यह बदलाव करने से इनकार करते हैं — गाली, ठिठोली, तंज़, सब ज्यों का त्यों रहने देते हैं। और यहीं उपन्यास की एक और ख़ूबी खुलती है: यह दयनीयता का दस्तावेज़ नहीं है। भूख और बीमारी के बीच भी यहाँ मज़ाक़ है, गीत है, त्योहार है। हाशिये के समुदायों पर लिखा गया ज़्यादातर लेखन उन्हें सिर्फ़ 'वंचना' की कोटि में समेट देता है और उनकी सांस्कृतिक समृद्धि मिटा देता है। यह उपन्यास वह ग़लती नहीं करता।

जाति का सवाल, जिसका नाम नहीं लिया गया

अब उस सवाल पर, जो इस लेख के लिए सबसे अहम है — और जहाँ ईमानदार जवाब उम्मीद से थोड़ा अलग है।

'झीनी झीनी बीनी चदरिया' पसमांदा विमर्श का घोषित पाठ नहीं है। इसमें 'पसमांदा' शब्द नहीं आता। अशराफ़-अजलाफ़ की शब्दावली विश्लेषण के औज़ार की तरह मौजूद नहीं है। कोई पात्र मुस्लिम समाज के भीतर की जातिगत ग़ैर-बराबरी का सुसंगत सिद्धांत नहीं रखता। यह मान लेना ज़रूरी है, वरना शोध पाठ पर अपनी बात थोपने लगेगा। लेकिन स्तरीकरण अनुभव के स्तर पर पूरे उपन्यास में मौजूद है। वह चार शक्लों में आता है। पेशे की बंदिश — बुनकर का बेटा बुनकर ही बनेगा; मतीन की सबसे बड़ी ख़्वाहिश भी पेशे से बाहर निकलने की नहीं, उसी के भीतर एक पायदान ऊपर चढ़ने की है, और वही पूरी नहीं होती। मुहल्ले का अलगाव — बुनकर बस्तियाँ शहर के भीतर होकर भी शहर से अलग हैं। बिरादरी के भीतर ही शादी — जाति जैसी संरचना की सबसे टिकाऊ पहचान। और सबसे मार्मिक, सांस्कृतिक पूँजी का अभाव — उर्दू अदब, तालीम, धार्मिक नेतृत्व और सियासी नुमाइंदगी की दुनिया में बुनकर कहीं नहीं है।

हाजी अमीरुल्लाह का चरित्र यहाँ ख़ास तौर पर पढ़ने लायक़ है। वह मुसलमान है, बिरादरी का है, हाजी है — और वही सबसे बड़ा शोषक है। यह चित्रण उस सीधी-सादी धारणा को तोड़ता है कि मुस्लिम समाज एकसार है और उसका हर संकट बाहर से आता है। धर्म की साझी पहचान के भीतर भी हैसियत, पूँजी और रुतबे की गहरी दरारें हैं — और उपन्यास बिना कोई सिद्धांत गढ़े यह बात कहानी से साबित कर देता है।

यानी उपन्यास पसमांदा हालात का दस्तावेज़ है, पसमांदा सिद्धांत का घोषणापत्र नहीं। और यह चुप्पी ख़ुद एक ऐतिहासिक तथ्य है। 1986 में जब यह किताब छपी, पसमांदा महाज़ बनने में बारह साल बाक़ी थे और 'पसमांदा' शब्द अभी हिंदी की सार्वजनिक बहस का हिस्सा नहीं बना था। बिस्मिल्लाह ने वह सच्चाई दर्ज की जिसके लिए सही राजनीतिक शब्द अभी गढ़े जा रहे थे। पीछे मुड़कर देखें तो यह उपन्यास पसमांदा विमर्श का पूर्ववर्ती पाठ लगता है — और यही इस लेख की केंद्रीय बात है।

उपन्यास के बाद: आज का बनारस

इस समुदाय पर आज कुछ भी लिखते हुए यह जोड़ना ज़रूरी है कि चालीस साल में क्या बदला।

सबसे बड़ा बदलाव पावरलूम है — वही मशीन, जिसे उपन्यास में हाजी अमीरुल्लाह सहकारी समिति के पैसे से लगाता है। जो साड़ी हथकरघे पर हफ़्तों माँगती है, पावरलूम उसे घंटों में बना देता है। एक अनुमान के मुताबिक़ आज वाराणसी में लगभग डेढ़ लाख बुनकर पावरलूम पर हैं और मुश्किल से पच्चीस हज़ार हाथ से बुनाई कर रहे हैं; कुछ दूसरे आकलनों में क्लस्टर के भीतर पचास से साठ हज़ार पारंपरिक हथकरघे बताए जाते हैं। आँकड़ों में यह फ़र्क़ ख़ुद इस बात का सबूत है कि यह क्षेत्र कितना अनौपचारिक है।

बाज़ार सस्ते पॉलिएस्टर, चीनी रेशम और नक़ली ज़री से भर गया है। सूरत से आने वाली 'बनारसी शैली' की मशीनी साड़ियाँ असली हथकरघा उत्पाद से मुक़ाबला करती हैं, और आम ख़रीदार दोनों में फ़र्क़ नहीं कर पाता। 4 सितंबर 2009 को 'बनारस ब्रोकेड्स एंड सारीज़' को भौगोलिक संकेतक (जी.आई.) टैग मिला — आवेदन संख्या 99, वर्ग 23 से 26 — जो बनारस बुनकर समिति और ह्यूमन वेलफ़ेयर एसोसिएशन समेत नौ संगठनों की साझा कोशिश का नतीजा था। इसके बाद सिर्फ़ वाराणसी, चंदौली, भदोही, मिर्ज़ापुर और आज़मगढ़ में बने असली हथकरघा उत्पाद ही 'बनारसी' नाम से बेचे जा सकते हैं; कुछ स्रोत इस सूची में जौनपुर को भी जोड़ते हैं। लेकिन इस क़ानूनी

सुरक्षा के बावजूद नक़ल पर रोक लगाना कठिन बना रहा, और बुनकरों के संकट की रिपोर्टिंग जी.आई. के बाद भी जारी है।

1990 के दशक की सांप्रदायिक हिंसा ने बुनकर (मुस्लिम श्रम) और कोठीवाल (बड़े हिस्से में हिंदू पूँजी) के बीच की पुरानी अंतर्निर्भरता में अविश्वास घोल दिया। वसंती रमन का अध्ययन ख़ास तौर पर यही दिखाता है कि इस तनाव की सबसे भारी क़ीमत सबसे कमज़ोर कड़ी — कारीगर — ने चुकाई।

इन सबका मिला-जुला नतीजा यह है कि उपन्यास का मूल निदान आज भी टिका हुआ है। बुनकर का संकट उसकी अकुशलता का नहीं, मूल्य-श्रृंखला में उसकी जगह का नतीजा है। चालीस साल में मशीन बदली, कच्चा माल बदला, क़ानून बना — पर वह जगह नहीं बदली। और इक़बाल जिस संगठित होने की बात करता था, वह सवाल आज भी वहीं खड़ा है।

आख़िर में

इस पूरे पढ़ने से चार बातें निकलती हैं।

पहली, 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' अंसारी बुनकरों के काम और कमाई के रिश्तों का बेहद सटीक साहित्यिक दस्तावेज़ है। पेशगी, कटौती, भाव की जानकारी न होना और सरकारी पैसे का रुख़ मुड़ जाना — शोषण के ये चारों तरीक़े उपन्यास में ब्योरे के साथ दर्ज हैं, और बाद के स्वतंत्र क्षेत्र-अध्ययन इनकी पुष्टि करते हैं।

दूसरी, मतीन की कहानी बताती है कि ग़रीबी व्यक्ति का दोष नहीं, ढाँचे का नतीजा है। वह ईमानदार है, मेहनती है, हुनरमंद है — और फिर भी हारता है, क्योंकि एक बीमारी और एक कर्ज़ उसे उस जाल में डाल देते हैं जहाँ से निकलने का रास्ता ही नहीं बनाया गया। और हाजी अमीरुल्लाह का चरित्र दिखाता है कि शोषक हमेशा बाहर का नहीं होता; वह बिरादरी और धर्म की चादर ओढ़कर भी बैठा हो सकता है।

तीसरी, यह उपन्यास पसमांदा अनुभव दर्ज करता है, पसमांदा सिद्धांत नहीं गढ़ता। जातिगत ग़ैर-बराबरी यहाँ नाम लेकर नहीं, पेशे की बंदिश, मुहल्ले के अलगाव और बिरादरी की शादी के रूप में आती है। यह चुप्पी दोष नहीं, अपने समय का सच है।

और चौथी बात। सरकारी रिपोर्टें औसत बताती हैं; उपन्यास बताता है कि उस औसत के भीतर जीना कैसा लगता है — कितनी रोशनी में काम होता है, कर्ज़ माँगते वक़्त आवाज़ कैसे बदलती है, दाग़ के नाम पर पाँच रुपये कटने पर घर में क्या होता है। यह किसी सर्वेक्षण के फ़ॉर्म में नहीं आता। इसलिए साहित्य समुदाय-अध्ययन का पूरक स्रोत है — अकेला प्रमाण नहीं, पर बहुत ज़रूरी। कबीर से बिस्मिल्लाह तक जाती यह लकीर दिखाती है कि बनारस के बुनकर को किसी एक पहचान में समेटा नहीं जा सकता। वह एक जगह, एक पेशे और एक ज़बान की परंपरा का वाहक भी है। इस परंपरा का ख़त्म होना सिर्फ़ एक उद्योग का ख़त्म होना नहीं है — वह एक ज्ञान-परंपरा का ख़त्म होना है। और यह उपन्यास, अपने पूरे दुख और पूरी ज़िद के साथ, हमें उसी की याद दिलाता है।

संदर्भ

1. बिस्मिल्लाह, अब्दुल. झीनी झीनी बीनी चदरिया. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 1986.

2. कबीर. 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' (पद). कविता कोश (डिजिटल संग्रह), kavitakosh.org.

3. रज़ा, राही मासूम. आधा गाँव. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1966.

4. शानी, गुलशेर ख़ाँ. काला जल. दिल्ली: अक्षर प्रकाशन, 1965.

5. एहतेशाम, मंज़ूर. सूखा बरगद. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1986.

6. अनवर, अली. मसावात की जंग: पसमांदा समाज का सच. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2001.

7. Ahmad, Imtiaz (ed.). Caste and Social Stratification among Muslims in India. New Delhi: Manohar, 1973.

8. Ansari, Ghaus. Muslim Caste in Uttar Pradesh: A Study of Culture Contact. Lucknow: Ethnographic and Folk Culture Society, 1960.

9. Ansari, Khalid Anis. 'Rethinking the Pasmanda Movement'. Economic and Political Weekly, Vol. 44, No. 13, 28 March 2009, pp. 8–10.

10. Ansari, Khalid Anis. 'Revisiting the Minority Imagination: An Inquiry into the Anticaste Pasmanda-Muslim Discourse in India'. Critical Philosophy of Race, Vol. 11, No. 1, 2023, pp. 120–147.

11. Rai, Santosh Kumar. 'Formation of a Colonial Identity: The Momin Ansars in Early Twentieth Century Northern India'. Proceedings of the Indian History Congress, Vol. 67, 2006–07, pp. 563–570.

12. Kumar, Nita. The Artisans of Banaras: Popular Culture and Identity, 1880–1986. Princeton: Princeton University Press, 1988.

13. Raman, Vasanthi. The Warp and the Weft: Community and Gender Identity among Banaras Weavers. New Delhi: Routledge, 2010.

14. Raman, Vasanthi. Entangled Yarns: Banaras Weavers and Social Crisis. Shimla: Indian Institute of Advanced Study, 2013.

15. Roy, Tirthankar. Traditional Industry in the Economy of Colonial India. Cambridge: Cambridge University Press, 1999.

16. Government of India. Report of the Backward Classes Commission (Mandal Commission Report). New Delhi, 1980.

17. Government of India, Ministry of Minority Affairs. Social, Economic and Educational Status of the Muslim Community of India (Sachar Committee Report). New Delhi, 2006.

18. Geographical Indications Registry, Government of India. 'Banaras Brocades and Sarees', Application No. 99, प्रमाणपत्र तिथि 04.09.2009.
search.ipindia.gov.in/GIRPublic/Application/Details/99

19. 'Varanasi's Muslim Silk-Weavers Battle Mechanisation, Communalism and Politics'. International Women's Media Foundation reporting project.

20. 'Varanasi: Banaras Silk Saree Weavers Staring at Crisis'. DT Next, 8 दिसंबर 2025.